ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol-2* Issue-10* November- 2017
Innovation The Research Concept

# प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के मनोवैज्ञानिक पक्ष एवं वर्तमान प्रासंगिकता

**रानी दुबे**
विभागाध्यक्ष,
शिक्षाशास्त्र विभाग,
डॉ0 हरीसिंह गौर केन्द्रीय वि0 वि0,सागर, म0 प्र0

**सारांश**

वर्तमान शिक्षाशास्त्री प्राचीन शिक्षा व्यवस्था को पूर्णतः आदर्शवादी मानते हुए उसके उद्वेश्यों को आदर्श मात्र ही मानतें हैं। किन्तु इस शिक्षा में व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास को लक्ष्य किया गया और इसकी प्राप्ति के बहुत ही व्यवहारिक और वैज्ञानिक सिद्वान्तों को स्वीकारा, जो वर्तमान में मनोविज्ञान के सिद्वान्तों में गिने जाते हैं। उवासगदसावा नामक ग्रन्थ में खिड्डी भूमि, विमासां भूमि, उनुगत भूमि, सेवा भूमि, समन भूमि, पुन्य भूमि आदि के वर्णन मिलते हैं, जिनसे शिक्षण के स्तरों का बोध होता है। तथा मानव स्वभाव की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का भी ज्ञान होता है। खिड्डी भूमि– प्रसन्नावस्था, विमांसा भूमि–प्रयोगावस्था, समन भूमि– सम्मावनावस्थाा आदि को सूचित करते हैं।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में बहुत सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर भी प्रकाश डाला गया है, जिनमें संज्ञानात्मक प्रक्रिया तथा व्यक्तित्व के विकास की अवधारणा प्रमुख है। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में उन तंत्रों पर अधिक बल डाला गया है जिनसे व्यक्ति अपने पन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर सकने में सफल होता है। प्राचीन शिक्षा में छात्र का आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए एवं स्मरण शक्ति को जाग्रता करने के लिए मेधालनन संस्कार किया जात था, जो छात्र के मन पर गहरा प्रभाव डालता था।

**मुख्य शब्द :** प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, मनोवैज्ञानिक पक्ष

**प्रस्तावना**

प्राचीन भारतीय शिक्षा–प्रणाली में 'मनोविज्ञान' जैसा शब्द कहीं–भी दृष्टिगत नही होता है, लेकिन शिक्षा व्यवस्था के जिस रूप को स्वीकार किया गया था उसमें ऐसे अनेक तत्व है जो यह स्पष्ट करते है कि मानव–व्यवहार और प्रवृत्ति का समुचित अध्ययन करने के उपरांत ही उन्हें अपनाया गया होगा।

**अध्ययन का उद्देश्य**

1. प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के मनोवैज्ञानिक पक्षों का अध्ययन करना।
2. प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के मनोवैज्ञानिक पक्षों की वर्तमान में प्रासंगिकता का अध्ययन करना।

वर्तमान शिक्षाशास्त्री प्राचीन शिक्षा व्यवस्था को पूर्णतः आदर्शवादी मानते हुए उसके उद्देश्यों को आदर्श मात्र ही मानते है। किन्तु इस शिक्षा में व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास को लक्ष्य किया गया और इसकी प्राप्ति के बहुत ही व्यावहारिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तो को स्वीकारा, जो वर्तमान में मनोविज्ञान के सिद्धान्तों में गिने जाते है। इसके कुछ स्पष्ट उदाहरण प्राचीन जैन ग्रन्थों में मिलते है। उवासगदसाव नामक ग्रन्थ में खिड्डी भूमि, विमांसा भूमि, उनुगत भूमि, सेवाभूमि, समन भूमि, पुन्न भूमि आदि के वर्णन मिलते है जिनसे शिक्षण के स्तरों का बोध होता है तथा मानव–स्वभाव की विभिन्न मानसिक अवस्थाओं का भी ज्ञान होता है। खिड्डी भूमि–प्रसन्नावस्था, विमांसा भूमि–प्रयोगावस्था, समन भूमि–सम्भावनावस्था आदि को सूचित करते है।

महाभारत में मूलप्रवृत्तियों तथा संवेगों का वर्णन रति, हास्य, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, तुगुप्सा, विस्मय आदि का समुचित रूप से मिलता है। इसी प्रकार स्थायी भावों, संचारी तथा विस्मयकारी भावों के अंतर्गत निर्वेद, ग्लानि, शंका, मद, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, चपलता, हर्ष, आवेग, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अप्समरा, अमर्ष, उग्रत, व्याधि, उन्माद, त्रास, वितर्क आदि हैं जिनका परिष्कार शिक्षा के माध्यम से किया जाता था।

उपर्युक्त उल्लेखित भावों और उनकी संज्ञा के अस्तित्व के पर्याप्त साक्ष्य आज भी उपलब्ध होते है। स्पष्टतः तद्‌युगीन शिक्षाशास्त्री व्यवहार की समस्याओं को भली–भाँति समझते थे। इन व्यावहारिक समस्याओं का समाधान भी किया गया था और शिक्षा के मनोविज्ञान तरीकों का भी अनुसंधान किया गया

था। इसका सशक्त उदाहरण कहानियों के द्वारा गम्भीर विषयों की शिक्षा प्रदान की पद्धति, जो पंचतंत्र में संरक्षित है, मानी जा सकती है।

न्यायसूत्र में बालकों के विकास की विभिन्न अवस्थाओ का वर्णन मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण ज्ञानेंद्रियों के विभिन्न कार्य तथा उसके आधारों का उल्लेख करता है। छांदोग्योपनिषद् में बालक के विकास, स्वभाव एवं शिक्षण–पद्धति के वर्णन मिलते है। मांडूक्योपनिषद् में बालक की मूल प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालते हुए बालक को मूल प्रवृत्तियों का पुंज कहा है और इनके विकास का उत्तरदायित्व शिक्षा पर डाला गया है। कुछ अन्य प्राचीन ग्रन्थों में बालक के वार्तालाप, शारीरिक कार्य, भाव–भंगिमा, भाषण आदि के द्वारा बालक की बुद्धि का अनुमान लगाये जाने तथा बुद्धि व वातावरण के सहसंबंध के विषय में जानकारी मिलती है।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में बहुत सी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर भी प्रकाश डाला गया है जिनमें संज्ञानात्मक प्रक्रिया (ब्वहदपजपअम चतवबमे) तथा व्यक्तित्व के विकास की अवधारणा प्रमुख है।

**प्राचीन शिक्षा पद्धति में दृष्टव्य मनोवैज्ञानिक पक्ष**

हमे ऐसा एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है जिसे शिक्षा–शास्त्र कहा जा सके या जिसमें सम्पूर्ण शिक्षा–प्रणाली के समस्त अंगो को प्रकाशित किया गया है। अन्य उपलब्ध साहित्य एवं पुरा सामग्री की सहायता से आधुनिक इतिहासकारों ने प्राचीन शिक्षा–व्यवस्था की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसका गंभीरता से आधुनिक शिक्षा–मनोविज्ञान के सापेक्ष अध्ययन करने पर यह प्रकट होता है कि प्राचीन युग में भी शिक्षाविदों ने शिक्षण को सशक्त एवं प्रभावशाली बनाने के लिए मानव–व्यवहार का अध्ययन किया तथा शिक्षा के मनोवैज्ञानिकता प्रदान की।

अधिगम के प्रति उत्सुकता बढ़ाने की विधियों का भी अस्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। उपनिषदों में अनेक ऐसी कथाओं का वर्णन है जिनमें शिक्षक अपने छात्र के मन में विषय के प्रति जिज्ञासा को उत्पन्न कर देता था। इस कार्य के दौरान शिक्षक प्रयास करता था कि छात्र के मन में लगातार प्रश्नों की उत्पत्ति होती रहे। छात्र को स्वयं ही प्रश्नों के उत्तर खोजने के लिए भी प्रेरित किया जाता था। छात्रों के मन में तीव्र उत्सुकता की भावना को आधुनिक मनोविज्ञान में अंतर्नाद की अवस्था कहा जाता है। इसके बाद स्वयं के प्रयासों से जिस ज्ञान की प्राप्ति होती थी वह अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता था। यह लगभग स्कीनर की सीखने के सिद्धांत में अंतर्नाद के जैसा है।

प्रारंभिक वैदिक शिक्षा लेखन कला की अनुपस्थिति में पूर्णरूपेण स्मृति के अधिकाधिक कुशल प्रयोग पर ही निर्भर करती थी। सम्पूर्ण पाठ्य सामग्री को गुरू के निर्देशानुसार छात्र स्मृतिधार्य करते थे। लिपिज्ञान के अनन्तर भी बहुत समय तक वैदिक साहित्य के संरक्षण और हस्तांतरण के लिए लेखन कला की सहायता नहीं ली जाती थी। शताब्दियो तक वेद ही अध्ययन के मुख्य विषय थे। इनके अध्ययन के लिए गुरू भारत के पुरातन मनोविज्ञान की मुख्य विषयवस्तु मानव मन था। वेदान्त दर्शन में मन को एक अन्तः कर्म या आंतरिक अंग माना गया है। इसमें मन के परिवर्तन एवं परिमार्जन की क्रियाओं पर बल दिया गया है। इसका साधन योग बतलाया गया है। जब मन पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है तो उसमें पूर्ण चेतना की अवस्था आ जाती है, इसी स्थिति को आत्म चेतन की अवस्था कहा गया। जीवात्मा आत्म–चेतन की अनुभूति की प्रारंभिक अवस्था होती है, इसी अवस्था के गहन स्तर एवं वासतविकता की समझ को परमात्मा की संज्ञा दी जाती है। आधुनिक समय में जो अर्थ आनुभाविक अहं (महव) का है, वही अर्थ उस समय जीवात्मा का था तथा परमात्मा आधुनिक समय के शुद्ध अहं (चनतम महव) के तुल्य है जिसके द्वारा संघटनात्मक कार्य (पदजमहतंजपअम निदबजपवदे) किये जाते है तथा जिसे व्यक्तित्व के कार्यपालक (मगमबनजपअम) के रूप में जाना जाता है।

प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान में उन तंत्रो पर अधिक बल डाला गया है जिनसे व्यक्ति अपने मन एवं इन्द्रियों पर नियन्त्रण स्थापित कर सकने में सफल होता है। इस तंत्र को योग तंत्र कहा जाता है इसी के लिए संस्कृत साहित्य में 'अभिधर्म' एवं बौद्ध दर्शन में 'अभिधम्म' कहा गया। अभिधम्म पिटक नाम के बौद्ध ग्रनथ में गौतम बुद्ध द्वारा मानव प्रकृति के बारे में बतलाये गये बहुत सारे मनोवैज्ञानिक नियमों का वर्णन मिलता है। अभिधम्म में 'अत्ता' या 'आत्मन्' का जो सम्प्रत्यय है, वह आधुनिक समय के 'व्यक्तित्व' पद के तुल्य है। अभिधम्म में 'आत्मन' को विभिन्न तरह की इच्छाओं, स्मृतियों, संवेदनों आदि का एक योग माना गया है। आत्मन् की सभी इच्छाएँ, स्मृतियाँ तथा संवेदन एक–दूसरे से भाव (मिमसपदह) द्वारा जुड़े होते है।

अभिधम्म में दो तरह के मानसिक कारकों का भी उल्लेख आता है–कुशल मानसिक कारक तथा अकुशल मानसिक कारक। कुशल मानसिक कारक में स्वस्थ मानसिक कारक तथा अकुशल मानसिक कारक में अस्वस्थ मानसिक कारक सम्मिलित होते है। 'पाना' स्वस्थ मानसिक कारक का एक उदाहरण है जिसे आजकल अंतर्दृष्टि (पदेपहीज) कहा जाता है तथा 'मोह' एक अस्वस्थ मानसिक कारक है जिसे आजकल भ्रान्ति (कमसनेपवद) कहा जाता है। इन कुशल तथा अकुशल मानसिक कारकों के अतिरिक्त सात ऐसे तटस्थ कारक भी है जो प्रत्येक मानसिक अवस्था में उपस्थित होते है।

एवं शिष्य दोनों का समर्पण वेदों के शुद्ध स्वर और उच्चारण के लिए था, इस कारण से सुदीर्घकाल तक मौखिक ढंग से ही शिक्षा प्रदान की जाती रही। आचार्य वैदिक मंत्रों के केवल दो शब्द एक साथ पढ़ता जिसे पूर्णतः उसी स्वर में विद्यार्थी दुहराता था। यदि शिष्य को कठिनाई होती तो उसे मंत्र और भी स्पष्ट कर दिया जाता था। इसी प्रकार जब एक मंत्र पूरा हो जाता वो दूसरे ब्रह्मचारी को इसी प्रकार पढ़ाया जाता था। इस प्रकार इस शिक्षा का यह प्रत्यक्ष ढंग था जिसमें आचार्य और विद्यार्थी के मध्य पुस्तकें नहीं आती थीं। स्मृति प्रयोग की कुछ ऐसी विधियाँ जो वर्तमान में भी न्यूनाधिक स्पष्टता से उपलब्ध हैं, जिनकी सहायता से कठिन विषयों को याद

किया जाता था, इस प्रकार से हैं–पाठ्य सामग्री का पद्यबद्ध रूपान्तरण, प्रतीकीकरण, सूत्र–निर्माण आदि। इस शिक्षा प्रणाली में मानवीय क्षमताओं को ध्यान में रखते हुए सीखने की एक निश्चित मात्रा, विषय वस्तु की निश्चित लम्बाई, धारणा–अन्तराल एवं सार्थक सीखने पर विशेष ध्यान दिया गया। दूसरे पक्ष में विस्मरण के प्रमुख कारकों जैसे विद्यार्थी की मानसिक वृत्ति, स्वास्थ्य, सांवेगिक स्थिति आदि का निराकरण करते हुए समग्र स्मृति क्षमता का विकास करने का प्रयास किया गया।

प्राचीन भारतीय विद्वानों ने भी लगभग इसी प्रकार से अभिरूचि की अवधारणा को समझा था। उस समय भी अभिरूचि की संरचनात्मक एवं कार्यात्मक अवधारणा स्पष्ट थी। इस तथ्य का उल्लेख गीता में मिलता है जहाँ चार वर्णों की उत्पत्ति का कारण उनके नैसर्गिक गुण एवं कर्म को बतलाया गया है। इस प्रकार हम कह सकते है कि वर्ण विभाजन का आधार मनोवैज्ञानिक था। शिक्षा में भी इसी प्रकार के प्रयोग किये गए और विद्यार्थियों की अभिरूचि वृद्धि के उपाय किये गए।

व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास की अवधारणा प्राचीन भारत में अस्तित्व में आ गयी थी। इसके उदाहरण मनुस्मृति एवं गीता में प्रचुर रूप से मिलते है। व्यक्ति को उसके नैसर्गिक गुणों के साथ सांसारिक उपलब्धियों एवं शिक्षा को घनिष्ठता से जोड़ा गया। इसे शिक्षा का एक उद्देश्य ही बनाया गया था जिसमें व्यक्तित्व के विकास के लिए सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की स्वतंत्राएँ थी।

प्राचीन शिक्षा में वैयक्तिक विभिन्नता को पर्याप्त मान्यता प्रदान की गयी थी तथा प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत गुणों की अद्वितीय संरचना माना जाता था तथा स्वयं के गुणों के अनुरूप विकास शिक्षा के उद्देश्यों में से एक था। किन्तु प्राचीन शास्त्रों में वैयक्तिक व मानवदत्त शिक्षण के महत्व के अनुपात के संबंध में स्पष्ट अंतर नहीं करते थे। कुछ स्थानों से ऐसे उदाहरण मिलते है जिनमें कहा गया है कि उचित शिक्षा समान विकास करती है इसमें नैसर्गिक गुणों का प्रभाव नगण्य होता है। कालांतर में यह भी विचार मिलते है कि नैसर्गिक गुणों की भिन्नता की उपेक्षा करते हुए प्रदान की गयी शिक्षा व्यर्थ जाती है। मुख्य रूप से दूसरे विचार को अधिक मान्यता मिली जिसमें रूचि एवं क्षमता के अनुरूप शिक्षा प्रदान करने की परम्परा दीर्घकाल में विकसित हो गयी। वैयक्तिक विभिन्नता को ध्यान में रखते हुए व्यक्तिगत ढंग से शिक्षा देने की विधि प्रचलित हुई थी।

परीक्षा–प्रणाली मनोविज्ञान की दृष्टि से कुछ गंभीर दोषों से मुक्त थी जो वर्तमान परीक्षाओं में देखने को मिलते है। सर्वप्रमुख यह प्रणाली विद्यार्थी के मस्तिष्क पर अवांछित भय को आरोपित नहीं करती थी और वह परीक्षा को उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण की धारणा से नही लेता था वरन् स्वयं की योग्यता के मूल्यांकन की दृष्टि से देखता था। नियमित मौखिक परीक्षा उसे स्वयं की योग्यता के प्रति सजग बनाए रखती थी। यह परीक्षा प्रणाली कठोर प्रतियोगिता से पूर्णतः मुक्त थी जिसके कारण विद्यार्थी अति आत्मविश्वास, निराशा, कुंठा, तनाव आदि संवेगात्मक कठिनाइयों से सुरक्षित रहता था। प्रतियोगिता से मुक्ति एक अन्य उद्देश्य की पूति भी करता था जिसमें छात्र आपसी ईर्ष्या, द्वंद्व के स्थान पर सहयोगात्मक ढंग से स्वयं की ज्ञान–वृद्धि के प्रयास करते थे।

**प्राचीन शिक्षा के मनोवैज्ञानिक–पक्षों की वर्तमान प्रासंगिकता**

शिक्षा की सफलता तभी मानी जा सकती है जब छात्र की अध्ययन में रूचि निरंतर बढ़ती रही, वह सीखने के लिए सदैव तत्पर रहे, उसमें अच्छी आदतों का विकास हो, वह शिक्षा–शास्त्री या ज्ञान का व्यावहारिक उपयोग कर सकें। इन बातों को प्रायः सभी शिक्षा–शास्त्री स्वीकार करते है। प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में भी इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास किया गया था और वर्तमान की अपेक्षा अधिक सफलता की प्राप्ति हुई थी।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है कि प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के अंतर्गत अधिगम की सम्पूर्ण प्रक्रिया एक अप्रत्यक्ष और प्रभावी अनुबंधन की प्रक्रिया या मनोस्थिति निर्माण करने के साथ सम्पन्न की जाती थी। मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि अनुबंधन के प्रयोग से छात्रों में अध्ययन की प्रबल आदतों का निर्माण किया जा सकता है। इसके विपरीत छात्रों को बुरी आदतों से मुक्त भी रखा जा सकता है। प्राचीन काल में अनुबंधन की प्रक्रिया एक धार्मिक संस्कार के रूप में होती थी। वर्तमान समय में जब शिक्षा धार्मिक गतिविधियों से दूर होती जा रही है ऐसे में संस्कारों की सिफारिश करना व्यावहारिक प्रतीत नही होता है, किन्तु यदि प्राचीन काल के समान छात्रों को शिक्षण–काल के प्रत्येक चरण में शिक्षा के उद्देश्यों का एंव छात्र कर्तव्यों का स्मरण दिलाया जाए तो वे निश्चित रूप से अध्ययन की ओर आकर्षित होगे। कुछ नियमित गतिविधियाँ जिनमें प्राप्त ज्ञान का प्रयोग प्रतिदिन करने के लिए अवसर मिले, सम्मिलित की जानी चाहिए।

प्राचीन शिक्षा में छात्र का आत्मविश्वास जाग्रत करने के लिए एवं स्मरण शक्ति को जाग्रत करने के लिए मेधाजनन संस्कार किया जाता था जो छात्र के मन पर गहरा प्रभाव डालता था। आज भी इसी के समानान्तर की मनोवैज्ञानिक क्रियाएँ की जा सकती है जो छात्र के आत्मविश्वास में वृद्धि करती हों।

प्रश्नोत्पत्ति पर प्राचीनकाल में बहुत अधिक बल एवं ध्यान दिया जाता था। प्रश्नों को ज्ञान वृद्धि का एक मुख्य मार्ग माना जाता था एवं छात्रों को निरंतर प्रश्न पूछने के लिए प्रोत्साहित किया जाता था। दैनिक गतिविधियों में भी वाद–विवाद के दौरान तर्क करने एवं नए प्रश्न पूछने की क्रियाएँ होती थी। वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इस पक्ष की उपलब्धता नहीं है। इस पक्ष को स्वीकारने से छात्रों की सक्रियता एवं अधिगम में तीव्र वृद्धि की जा सकती है।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र एवं वृहदाख्यक उपनिषद में सीखने की जिस प्रक्रिया का वर्णन है, शिक्षक के निर्देशन में उनका व्यवहार अधिगम को सरल एवं स्थायी बना सकता है। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त में सीखने की इच्छा का विकास, नियमित पाठ्यवस्तु ग्रहण करना, पाठ्य वस्तु को समझना, स्मृति में धारण करना, चिंतन करना, निर्णय या विभेद करने का अभ्यास एवं सत्य के प्रति स्नेह एक बहुत ही महत्वपूर्ण अधिगम सिद्धान्त है।

इसे यदि विद्यालयीन शिक्षक छात्रों के उपयोग के लिए अपनाता है तो अधिगम स्थायित्व में स्वाभाविक रूप से वृद्धि होगी।

स्मृति विकास की कुछ पुरानी विधियों का प्रयोग वर्तमान में भी किया जाता है जैसे समयानुसार पुनरावृत्ति, सूत्र–निर्माण, प्रातीकीकरण, संक्षेपीकरण इत्यादि। सीखने की निश्चित मात्रा, लम्बाई, धारणा–अंतराल एवं सार्थक सीखना प्राचीन समय से आज तक अपनी प्रासंगिकता सिद्ध करता रहा है।

आधुनिक काल के समान प्राचील काल में भी अभिरूचि की संरचनात्मक एवं कार्यात्मक अवधारणा को समझा जाता था एवं अभिरूचि जाग्रत करने की विधियाँ स्वीकारी गयी थी। इसके अंतर्गत नियमित रूप से शिक्षा के उद्देश्यों को छात्र के सामने रखना, संशयात्मक वातावरण का निराकरण करना, वाद–विवाद आयोजित करना प्रमुख था।

अभिरूचि के आधार पर ही वैयक्तिक विभिन्नता की अवधारणा विकसित हो गयी थी। प्राचीन शिक्षा में विभिन्नता के आधार पर व्यक्तिगत रूप से छात्र को शिक्षित करने की व्यवस्था अपनायी गयी थी। बौद्ध साहित्य में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि एक शिक्षक के अधीन उतने ही छात्र रहते थे जिन पर वह व्यक्तिगत ध्यान दे सके और उनकी व्यक्तिगत समस्याओं को सुलझा सके। वर्तमान शिक्षा प्रणाल इस मामले में अच्छी नही कही जा सकती क्योंकि विद्यालयों में शिक्षा छात्र के अनुपात को तार्किक ढंग से निर्धारित नहीं किया जाता है। अतः प्राचीन व्यवस्था यहाँ अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

प्राचीन भारतीय शिक्षा–व्यवस्था में व्यक्तित्व के वासतविक पूर्ण विकास की अवधारणा को सही अर्थो में समझा गया था जिसमें शारीरिक–मानसिक योग्यताओं के विकास के साथ आत्मसम्मान की भावना, आत्मविश्वास, आत्म संयम, न्यायशक्ति, सामाजिक कर्त्तव्य पालन, नैतिकता आदि गुणों को समाहित किया गया था। धार्मिक–सांस्कृतिक गतिविधियाँ एवं विद्यालय का स्वस्थ वातावरण व्यक्तित्व का निर्माण करता था। वर्तमान शिक्षा में इन्हें सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

प्राचीन मूल्यांकन प्रणाली भी कुछ सीमा तक आज भी सार्थक मानी जा सकती है क्योंकि इसमें अवांछित संघर्ष, भय एवं हिंसक प्रतियोगिता के तत्व उपलब्ध नहीं थे। यह मूल्यांकन प्रणाली कहीं से भी छात्रों में निराशा का भाव पैदा नहीं करती थी जो वर्तमान मूल्यांकन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है।

उपर्युक्त वर्णित तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यह विश्वास किया जा सकता है कि प्राचीन भारत मे विकसित हुई शिक्षा व्यवस्था वर्तमान के लिए सार्थक है। इसमें अनेक ऐसे तत्व हैं जो आधुनिक प्रणाली के दोषों को दूर करके शिक्षा प्रक्रिया को समृद्ध बना सकते हैं।

**निष्कर्ष**

इतिहास में मानवीय बौद्धिक चिंतन और श्रम से विकसित कोई भी व्यवस्था आज भले ही सामाजिक प्रतीत न होती हो परन्तु उसके कुछ अवयव दीर्घजीवी या शाश्वत उपयोग के हो सकते है। प्राचीनकाल में भारतीयों द्वारा अस्तित्व में आयी शिक्षा–व्यवस्था भी उक्त कथन का अपवाद नहीं है तथा पूर्व वर्णित विषयवस्तु इसका प्रमाण है। यह कहा जाता है कि कोई भी व्यवस्था आकस्मिक रूप से प्रकट नहीं होती है उसका निर्माण क्रमिक रूप से ही होता है। प्राचीनकाल में जब हम वैदिक शिक्षा को स्थापित दशा में पाते हैं जो यह सूचित करता है कि दीर्घकाल से इस स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास चल रहा था। प्राप्त ज्ञान के व्यवस्थित हस्तांतरण एवं संरक्षण के लिए शिक्षा ही सर्वोत्तम माध्यम मानी गयी और सभ्यता के प्रारम्भ से ही शिक्षा को एक व्यवस्था का रूप प्रदान करने का प्रयास किया गया। इसी प्रयास के अंतर्गत मानवीय व्यवहार का भी समुचित अध्ययन किया गया जिसके फलस्वरूप शिक्षा में मनोवैज्ञानिक तत्व सम्मिलित होते गया।

**संदर्भ ग्रंथ सूची**

**मूल साहित्य**

1. *आश्वलायन गृहसूत्र (1976) – ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली।*
2. *आपस्तंब गृहसूत्र – (अनुवाद) सत्यप्रकाश, दिल्ली।*
3. *ईशादि नव उपनिषद् – गीता प्रेस गोरखपुर।*
4. *महाभारत (1956) – गीता प्रेस गोरखपुर।*
5. *मनुस्मृति – (सं.) गोपाल शास्त्री नेने, वाराणसी।*
6. *सुभाषित रत्न संग्रह – विद्यालयीन पाठ्य–पुस्तक (पूर्व कालिक)*

**आधुनिक साहित्य**

7. *अल्तेकर ए.एस. (1955) – ''प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति'', नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी।*
8. *दास, एस.के. (1930) – ''दि एजुकेशन सिस्टम ऑफ ऐशियंट हिन्दूज'' कलकत्ता।*
9. *जैन, के.सी. (1995) – ''प्राचीन भारतीय सामाजिक और आर्थिक संस्थाएँ'', म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल।*
10. *चौबे, झारखण्डे – ''इतिहास दर्शन'', मोतीलाल बनारसीदास, पटना।*
11. *पाण्डेय, राजबली (1957) – ''हिन्दू संस्कार'', वाराणसी।*
12. *पाण्डेय, विमलचंद्र – ''भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास'', इलाहाबाद।*
13. *मिश्र, जनार्दन – ''भारतीय प्रतीकविद्या'', पटना।*
14. *श्रीवास्तव, के.सी. (2001) – ''प्राचीन भारत का इतिहास एवं संस्कृति'', इलाहाबाद।*

**मनोविज्ञान के ग्रन्थ**

15. *भटनागर सुरेश (2006) –''शिक्षा मनोविज्ञान'', मेरठ*
16. *सिंह, अरूण कुमार (2002)–(1)''शिक्षा मनोविज्ञान'' भारत भारती, पटना। (2) ''मनोविज्ञान के सम्प्रदाय एवं इतिहास'',*
17. *मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली।*